UNIVERSAL LIBRARY
OU_176322
UNIVERSAL LIBRARY

वेदान्त-सिद्धान्त और व्यवहार

स्वामी शारदानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H181.48 S21V Accession No. H1061

Author शारदानन्द, स्वामी।

Title वेदान्त - सिद्धान्त और व्यवहार।

This book should be returned on or before the date last marked belo

वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार

स्वामी शारदानन्द

अनुवादक—श्री त्रिगुणानन्द शुक्ल, काव्यतीर्थ, एम. ए.

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

जुलाई १९५०]

[मूल्य ।=)

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर–१, म. प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ५१ वाँ
(श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित)

मुद्रक—
रामगोपाल गिरधारीलाल श्रीवास,
बजरंग मुद्रणालय,
कर्नलबाग, स. नं. २, नागपुर

वक्तव्य

यह पुस्तक अमेरिकन श्रोतागणों के सम्मुख स्वामी शारदानन्द द्वारा दिए गए एक भाषण का हिन्दी अनुवाद है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक उन लोगों के लिए विशेष लाभ की होगी जो संक्षेप में वेदान्त के मूल तत्वों की रूपरेखा तथा आज के संसार के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के साथ उसका सम्बन्ध जानने के इच्छुक हैं।

श्री त्रिगुणानन्द शुक्ल, काव्यतीर्थ, एम. ए., ने इस पुस्तक का मूल अंग्रेजी से अनुवाद किया है। उनके इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम उनके परम कृतज्ञ हैं।

डॉ. पं. विद्याभास्करजी शुक्ल, एम. एस-सी., पी-एच. डी., प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर को भी हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रुफ-संशोधन में हमें बड़ी सहायता दी है।

नागपुर
ता. १५-७-१९५०

प्रकाशक

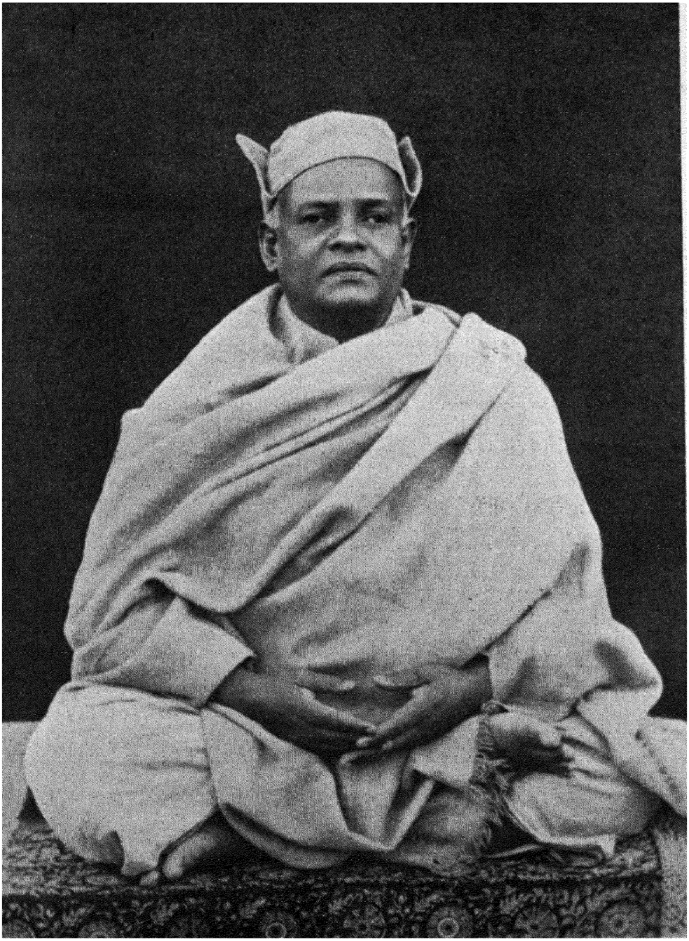

स्वामी शारदानन्द

वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार

आज सायंकाल हमारा विषय है वेदान्त-दर्शन और मानव-जीवन में इसका प्रयोग। भारत में यह श्रेष्ठ दर्शन हज़ारों वर्ष पहले प्रकाश में आ चुका था, पर इसका आविर्भाव कब हुआ, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित काल निर्धारित करना कठिन है। इसका अस्तित्व हम बौद्ध धर्म तथा बौद्धकाल पूर्व के दो महाकाव्य—रामायण और महाभारत—के भी बहुत पहले पाते हैं। भारत में विद्यमान सभी विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का परीक्षण करने पर हमें वेदान्त के सिद्धान्त उनमें प्रत्येक में निहित मिलते हैं; इतना ही नहीं, वेदान्त-मत-प्रवर्तक ऋषि अथवा विचार-द्रष्टा तो यहाँ तक साधिकार कहते हैं कि पृथ्वीतल पर इस समय प्रचलित सभी धर्मों में इसके सिद्धान्त विद्यमान हैं और भविष्य में आने वाले सभी धर्मों में भी रहेंगे। वेदान्त जिस लक्ष्य की ओर निर्देश करता है वह वही लक्ष्य है जिसकी ओर सभी धर्म, सभी समाज और सम्पूर्ण मानव-जाति क्रमविकासतत्वानुसार ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में अग्रसर हो रही है।

इस दर्शन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसका निर्माण किसी एक व्यक्ति या धर्म-प्रवर्तक द्वारा नहीं हुआ है। जैसा कि 'वेदान्त' शब्द बतलाता है, इसकी रचना वेदों के उत्तर-खण्ड

अर्थात् ज्ञान-काण्ड के आधार पर हुई है। प्राचीनतम हिन्दू भाष्यकार के अनुसार संस्कृत धातु विद् (जानना) से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ है समस्त अतीन्द्रिय दिव्य ज्ञान जो मनुष्य को अब तक प्राप्त हैं तथा जो भविष्य में प्राप्त होंगे और जिन ग्रन्थों में ये ज्ञान संचित हैं, उनके लिए यह शब्द बाद में व्यवहृत होने लगा। वेदों के भाष्यकार का यह भी कहना है कि ये दिव्य ज्ञान केवल हिन्दुओं को ही नहीं, अन्य लोगों को भी व्यक्त हुए होंगे और उनका अनुभव भी वेद माना जाना चाहिए। वेद दो बड़े भागों में विभक्त किये गए—(१) 'कर्मकाण्ड', जो मनुष्य को यह सिखलाता है कि कर्तव्य, नैतिकता का पालन तथा अन्य अनुष्ठानों द्वारा वह कैसे स्वर्ग को—जो कि भोग का उच्च स्थान है—प्राप्त कर सकता है; और (२) 'ज्ञानकाण्ड', जो उसे यह सिखलाता है कि उसका लक्ष्य स्वर्ग का उपभोग भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भी क्षणिक और अनित्य है, वरन् उसका ध्येय यह होना चाहिए कि सर्वविध दृश्यादृश्य जगत् से परे होना तथा अपने आपमें उस अद्वितीय सर्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना, जो कि समस्त ज्ञान एवं शक्ति का केन्द्र है। अवश्य ही हिन्दुओं को इस दर्शन को अभिव्यक्त करने में सदियों का समय लगा।

'दर्शन' की चर्चा करते हुए हमें इस बात का सर्वदा ध्यान रखना होगा कि भारत में वह 'धर्म' के विरुद्ध कभी नहीं गया। ये दोनों ही सर्वदा साथ साथ चलते रहे। समष्टि रूप से मनुष्य के अनुकूल होने के लिए धर्म केवल हृदयग्राह्य ही नहीं, वरन् बुद्धिग्राह्य भी होना

चाहिए और इसीलिए उसका अध्यात्म विद्या के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित होना ही आवश्यक है; क्योंकि क्या मनुष्य विचार, आवेग और इच्छाशक्ति का सम्मिश्रण नहीं है? क्या कोई भी एक धर्म जो इन क्षेत्रों में उसकी सर्वोच्च आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करता, उसे सन्तुष्ट कर सकता है?

विज्ञान की द्रुतगति और बाह्य तथा भौतिक संसार के अध्ययन द्वारा प्रतिदिन होने वाले इसके आश्चर्यजनक आविष्कार अनेक व्यक्तियों के हृदय में भय उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह सोचने लगे हैं कि दिनोंदिन धर्म की नींव ही खोदी जा रही है और इस आधार-शिला पर निर्मित सम्पूर्ण सामाजिक रूपरेखा आसन्न संकट में पड़ गई है। पर प्राचीन द्रष्टाओं ने आभ्यन्तरिक संसार के अध्ययन द्वारा धर्म, नैतिकता, कर्तव्य तथा संक्षेप में प्रत्येक वस्तु का आधार उस एकता में पाया जो इस विश्व की पृष्ठभूमि है तथा जो सच्चिदानन्दस्वरूप महासागर है जिससे इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। यदि वे प्राचीन द्रष्टा आज यहाँ होते तो उन्हें यह देखकर प्रसन्नता होती कि नींव खोदने के बदले विज्ञान धर्म के आधार को इतना सुदृढ़ करता जा रहा है जितना वह पहले कभी नहीं था, क्योंकि यह उसी लक्ष्य—उसी एकता—की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा है। और यह ऐसा ही होना चाहिए; क्योंकि क्या विश्व समष्टिरूप में सम्बद्ध एक और अखण्ड नहीं है? क्या आन्तरिक और बाह्यरूप में इसका विभाजन स्वेच्छाचारिता नहीं है? क्या बाह्य विश्व का उसके वर्तमान रूप में हमें कभी ज्ञान हो सकता है? पुनश्च, हम उन प्राकृतिक नियमों की चर्चा करते हैं जो बाह्य जगत्

का संचालन करते हैं, किन्तु हमारा मन ही बाह्य विश्व में घटने वाली घटनाओं की शृंखला को एक विशिष्ट पद्धति द्वारा श्रेणीबद्ध करता है। क्या ये प्राकृतिक नियम इस विशिष्ट मानसिक पद्धति के अतिरिक्त और कुछ हैं? वेदान्त के अनुसार यह विश्व एक सम्बद्ध समवाय है। बाह्य जगत् से प्रारम्भ कर आप आन्तरिक में तथा आन्तरिक से प्रारम्भ कर बाह्य में पहुँच जाएँगे। सच्चिदानन्दरूपी अनन्त महासागर से यह विश्व प्रकट हुआ है और पुनः उसीमें विलीन हो जायगा। अनन्तकाल से यह विश्व क्रमविकसित (Evolving) और क्रमसंकुचित (Involving) होता आरहा है। इसे हम एक इकाई (Unit) के रूप में देखें तो हमें प्रतीत होगा कि इसमें न परिवर्तन हो सकता है, न गति। यह पूर्ण है और सर्वविध तथाकथित परिवर्तन इसीमें विद्यमान हैं—फिर भी यह इकाई ज्यों की त्यों बनी रहती है। परिवर्तन और गति तभी सम्भव हैं जब तुलना का भाव हो, पर तुलना दो या अधिक वस्तुओं में ही हो सकती है। पुनश्च यह क्रमविकास और क्रमसंकोच, यह अभिव्यक्ति और अव्यक्त या बीजरूप में पुनरावर्तन—इस क्रम का किसी समयविशेष में प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसका प्रारम्भ स्वीकार करने का अर्थ होगा सृष्टिकर्ता का प्रारम्भ स्वीकार करना और इतना ही नहीं, यह भी कि वह सृष्टिकर्ता निर्दय और पक्षपाती है जिसने प्रारम्भ में ही इन विभिन्नताओं को जन्म दिया है। फिर एक और कठिनाई उत्पन्न हो सकती है: सृष्टिकर्ता अर्थात् प्रथम-कारण सृष्टि द्वारा सम्पूर्ण या असम्पूर्ण बनाया गया होगा। अतः वेदान्त के अनुसार सृष्टि भी उतनी ही नित्य है जितना स्वयं सृष्टिकर्ता;

बात केवल इतनी ही है कि यह कभी व्यक्त अवस्था में रहती है और कभी अव्यक्त अवस्था में। तब इस सृष्टि का, उसके क्रमविकास और क्रमसंकोच के चिरन्तन प्रवाह का तात्पर्य और उद्देश्य क्या है? वेदान्त इसका जो उत्तर देता है वह यह है कि यह अनन्त ब्रह्म का एक खेल है। सम्पूर्ण, अद्वितीय ब्रह्म को बिना असम्पूर्ण बनाये हम उसमें अभिप्राय का आरोप नहीं कर सकते। सृष्टि करने को बाध्य करने के लिए अवश्य ही सम्पूर्ण अनन्त का कोई अभिप्राय नहीं होगा। अनन्त को सर्वतोभावेन मुक्त और स्वतन्त्र होना चाहिए, और यह सापेक्ष और सान्त की कल्पना ही उस निरपेक्ष और अनन्त के अस्तित्व को सूचित करती है। एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही वास्तव में एकमात्र सत्ता है और ज्ञान और आनन्द के उस असीम महासागर में यह विश्व केवल एक बिन्दु सदृश है। वह अपने आप से ही खेलता है और इस परिदृश्यमान जगत् के रूप में प्रकट होता है। इन भिन्न भिन्न असम्पूर्ण वस्तुओं के रूप में वह अभिव्यक्त होता है और साथ ही उसके पूर्णत्व और अखण्डत्व का ऐश्वर्य ज्यों का त्यों बना रहता है। इस दृश्य संसार में "वह क्रियाशील है और निष्क्रिय भी, वह दूर भी है और समीप भी, वह सबके भीतर विद्यमान है और बाहर भी है।" * "जिस प्रकार जाल में बैठा हुआ मकड़ा जाल फैलाता है और धागों को पुनः समेट

---

* तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

—ईशोपनिषद, ५

लेता है, तथा जिस प्रकार बिना किसी प्रयत्न के, मनुष्य के सिर पर बाल उगते हैं उसी प्रकार ज्ञान एवं आनन्द के उस असीम महासागर से यह विश्व निकलता है और पुनः उसीमें विलीन हो जाता है।" +

क्रमविकास के कारण की खोज के द्वारा विज्ञान एक जाति (Species) के अन्य प्रकार की जाति में परिवर्तन के लिए 'योग्यतम की अवस्थिति' (Survival of the fittest) और 'यौन-निर्वाचन' (Sexual selection) सम्बन्धी विधान पर पहुँचा है। जहाँ तक सृष्टि सम्बन्धी क्रमविकास की सत्यता का प्रश्न है, वेदान्त इससे सहमत है, पर इससे उसका मतभेद इसलिए है कि वह कहता है कि एक प्रकार की जाति की अन्य प्रकार की जाति में परिवर्तन का कारण है—प्रत्येक रूप में विद्यमान परमात्मा का अपने को उत्तमोत्तम रूप में व्यक्त करने के लिए संघर्ष। जैसा कि हमारे एक बहुत बड़े दार्शनिक का कहना है, खेत की सिंचाई के मामले में, जहाँ तालाब ऊँची सतह पर स्थित है, पानी खेत में बहने की सर्वदा चेष्टा करता रहता है, पर व्यवधान द्वारा रोक दिया जाता है। व्यवधान तक पानी अपनी प्राकृतिक गति से ही बह आयेगा। परमात्मा के इस संघर्ष ने मानव-रूप तक उत्तरोत्तर उच्च रूपों को उत्पन्न अथवा व्यक्त किया। आज भी वह उसी प्रकार प्रगतिशील है और यह पूर्ण तभी होगा जब परमात्मा, अपने आपको बिना किसी बाधा के, पूर्ण रूप में अभिव्यक्त कर देगा। क्रमविकास की उच्चतम भूमि वह है

\+ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥
—मुण्डकोपनिषद, १।७

जहाँ इन्द्रियग्राह्य विश्व का अतिक्रमण होकर इन्द्रियातीत अद्वितीय चैतन्य-सत्ता में अवस्थिति होती है। विकास की इस अवस्था में मनुष्य बहुत पहले पहुँच चुका है। ईसा, बुद्ध तथा उनके समान संसार के बड़े आचार्य इस अवस्था में पहुँच चुके हैं। अज्ञान रूप में सम्पूर्ण मानव जाति उसी की ओर अग्रसर हो रही है। पर क्या क्रमविकास की यह सर्वोच्च पूर्ण अवस्था सम्भव है? वेदान्त कहता है, 'हाँ, अवश्य ही'; क्योंकि क्रमसंकोच के बिना क्रमविकास कभी हो ही नहीं सकता। इस विकास का अनन्त क्रम स्वीकार करना एक सरल रेखा में अनन्त गति को स्वीकार करने के समान ही होगा जिसे आधुनिक विज्ञान ने असम्भव बताया है। यह पूर्ण विकास प्राप्त करने में समाज को अनेक युग लग जायँगे, पर मनुष्य उसे इसी जीवन में प्राप्त कर सकता है और उसने किया भी है। यह बात हम संसार के धार्मिक इतिहास में देख पाते हैं। बाइबिल आदि क्या हैं?—केवल उन मनुष्यों के अनुभव का लेखा जो उस अवस्था में पहुँच चुके हैं। उसे अच्छी तरह पढ़कर देखें तो आपको पता चल जायगा कि वह अवस्था, जिसे वेदान्त ने सुप्रसिद्ध सूत्र 'तत्त्वमसि' में व्यक्त किया है (अर्थात् तुम भी ज्ञान और आनन्द का वही अनन्त महासागर हो), वही अवस्था बुद्ध द्वारा व्यक्त की गई निर्वाण-प्राप्ति की अवस्था है। वही अवस्था ईसा द्वारा व्यक्त की गई स्वर्ग में रहने वाले 'पिता' के समान पूर्णता प्राप्त करने की, तथा मुस्लिम सूफियों द्वारा व्यक्त की गई सत्य के साथ एकत्व-प्राप्ति की भी अवस्था है। वेदान्त का यह साधिकार कथन है कि मनुष्य की

ब्रह्म से एकत्व-प्राप्ति (अर्थात् उसकी वास्तविक प्रकृति अनन्त और अखण्ड है) का यह विचार भारत या इसके बाहर के प्रत्येक धर्म में विद्यमान है; केवल कुछ धर्मों में यह विचार रूपक तथा प्रतीक-उपासना द्वारा व्यक्त किया गया है। इसका कहना है कि जिस स्थिति को एक मनुष्य या कुछ मनुष्य बहुत पहले पहुँच चुके हैं वह सभी मनुष्यों का प्राकृतिक उत्तराधिकार है और आज या कल उस स्थिति को सभी प्राप्त करेंगे। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार मनुष्य स्वयं ब्रह्म है और मानव प्रकृति में जो कुछ दृढ़, उत्तम तथा शक्तिशाली है, वह उसके भीतर विद्यमान ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति है।

इस अतीन्द्रिय परमोच्च ज्ञान की अवस्था में ही सर्वविध नैतिकता का आधार निहित है। वर्तमान काल में सापेक्ष के भीतर नैतिकता के स्थायी आधार का पता लगाने के लिए असफल प्रयत्न किये गये हैं। हम लोगों में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इस बात का अनुभव करता है कि नैतिकता, निःस्वार्थता तथा परोपकार उत्तम हैं और इनके बिना न व्यक्ति का और न राष्ट्र का ही विकास हो सकता है। किसी धर्मविशेष के क्षेत्र से बाहर रहने वाले उपयुक्ततावादी व्यक्ति भी उपर्युक्त गुणों का प्रसार यह समझकर कर रहे हैं कि हमें वे कार्य अवश्य करने चाहिये जिनसे अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक उपकार हो सके। पर यदि हम प्रश्न करें कि हम ऐसा क्यों करें, हम अपने भाई को आत्मवत् क्यों समझें और अन्य सब का हित न करके भी अधिक से अधिक अपने उपकार की चेष्टा क्यों न करें तो कोई युक्तियुक्त उत्तर हमें नहीं मिलेगा। इस

प्रश्न का जो उत्तर वेदान्त देता है वह यह है कि आप और हम इस विश्व से अलग नहीं हैं। भ्रमवश हम लोग अपने को पृथक् तथा एक दूसरे से स्वतन्त्र समझते हैं लेकिन सभी इतिहास, सभी विज्ञान यह दर्शाते हैं कि बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक किसी भी दृष्टि से यह विश्व एक और अखण्ड है। हमारे भिन्न भिन्न शरीर मानो बाह्य जड़रूपी महासागर की विभिन्न तरंगें हैं, परन्तु उनमें वास्तव में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार इस जड़ जगत् के पीछे मनोरूपी वह एक विशाल महासागर है और हमारे मन मानो उसकी विभिन्न लहरें हैं और उसके पीछे है वह निरपेक्ष पूर्ण ब्रह्म जो हमारी आत्मा है। मानव-जीवन सम्बन्धी सभी कुछ इस एकत्व की ओर संकेत करता है। हमारा प्रेम, हमारी सहानुभूति, दयालुता और परोपकार ज्ञात या अज्ञात रूप में, विश्व के साथ मनुष्य के इस एकत्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। ज्ञात या अज्ञात रूप में प्रत्येक व्यक्ति इस बात का अनुभव करता है, ज्ञात या अज्ञात रूप में वह यह व्यक्त करने की चेष्टा करता है कि वह विश्वव्यापी परमात्मा के साथ एकरूप है और इसलिए वह प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक शरीर से अभिन्न है तथा दूसरे को चोट पहुँचाकर वह अपने को ही चोट पहुँचाता है और दूसरों को प्यार कर वह अपने को ही प्यार करता है।

इससे एक सूक्ष्म परन्तु निराधार प्रश्न उठता है। जब हम विकास की उस सर्वोच्च अवस्था—उस अतीन्द्रिय शुद्ध अद्वितीय चैतन्य को प्राप्त कर लेंगे तब क्या हम अपने व्यक्तित्व को खो देंगे? वेदान्त इसके बदले में प्रश्न करता है, क्या वास्तविक अर्थ में अब भी हमारा ठीक

ठीक 'व्यक्तित्व' है? क्या व्यक्तित्व का अर्थ है मनुष्य में परिवर्तनशील उपादान?—अथवा यह उसके भीतर विद्यमान किसी अपरिवर्तनशील सारभूत पदार्थ का बोधक है? क्या आप व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग मनुष्य के शरीर और मन के लिए करते हैं जिसमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है? यदि ऐसी बात है तो प्रथम प्रश्न की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि हम अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में अपने व्यक्तित्व को खो रहे हैं अथवा उसमें परिवर्तन ला रहे हैं। इस पर विचार कीजिये कि जब से हम लोगों का जन्म हुआ है तब से हममें से प्रत्येक में कितने विशाल परिवर्तन हुए हैं; विचार कीजिये कि एक दुष्ट व्यक्ति के जीवन में, जब वह समाज का एक सदाचारी सत् सदस्य हो जाता है, कितना परिवर्तन होता है; विचार कीजिये कि एक आदिम मनुष्य में, जब वह सभ्य हो जाता है, कितना परिवर्तन होता है; अथवा एक असभ्य व्यक्ति के विशाल परिवर्तन को सोचिये जब क्रमविकास की प्रक्रिया द्वारा वानर-रूप नर-रूप हो जाता है। क्या उपर्युक्त दशाओं में व्यक्तित्व के परिवर्तन के लिए हमें कोई परिताप होता है? वेदान्त का कथन है कि अपने व्यक्तित्व के विकास द्वारा आप उस स्थिति को पहुँच जाते हैं जहाँ आप पूर्ण व्यक्ति हो जाते हैं। आप अपने आपात-प्रतीयमान वर्तमान व्यक्तित्व में श्रेष्ठतर तथा यथार्थ रूप की प्राप्ति के लिए परिवर्तन लाते हैं। क्रमविकास की उत्तरोत्तर गति का नियम है नीतिविहीनता से नीति में आना और फिर उसके भी परे चले जाना, अचेतन से चेतन में आना और तत्पश्चात् उसके भी अतीत हो जाना।

हमारा चेतन अस्तित्व, जहाँ हमारा प्रत्येक कार्य अहंकार की भावना से युक्त है, हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व नहीं है। निद्रावस्था में अथवा वे कार्य करते समय जो आप ही आप चिन्ताहीन या सहज रूप से होते रहते हैं, (Automatic actions) अहंकार की भावना विद्यमान नहीं रहती, तो भी हमारा अस्तित्व रहता है—यद्यपि हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं जो चेतन अवस्था से नीचे और उससे निम्न कोटि की है। विकास की द्वन्द्वातीत अतीन्द्रिय सर्वोच्च स्थिति में भी अहंकार का अनुभव नहीं होता, पर यह अवस्था द्वन्द्वात्मक चेतन अवस्था से अनंत गुनी श्रेष्ठ है। ऊपर ऊपर देखने पर विकास की उच्चतम और निम्नतम स्थितियाँ एक जैसी ही मालूम पड़ती हैं, पर दोनों में उतना ही भेद है जितना प्रकाशाभाव द्वारा उत्पन्न अन्धकार और प्रकाशाधिक्य द्वारा उत्पन्न अन्धकार में है, जिसे विज्ञान में प्रकाश का 'पोलराइज़ेशन' (Polarisation) कहते हैं। एक निरक्षर और अज्ञ मनुष्य है, उसका आभ्यन्तरिक विकास होते होते वह एक ऋषि, एक धर्म-प्रवर्तक, एक महान् ज्ञानद्रष्टा के रूप में प्रकट होता है। वह अपने आप में सभी ज्ञान और शक्तियों के शाश्वत उद्गमस्थान का पता लगा लेता है, वह स्वर्ग का राज्य अपने आप में प्राप्त कर लेता है। वेदों का कहना है कि "वह सर्वोच्च पद पर पहुँच जाता है, उसके सभी सन्देह और वासनाएँ सदा के लिए नष्ट हो जाती हैं और उसके हृदय की सभी

स्वार्थ-पूर्ण ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, कारण और कार्य का अनन्त क्रम उसके लिए समाप्त हो जाता है।"*

इस अतीन्द्रिय एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द को प्राप्त करना विभिन्न धर्मों में ब्रह्मसाक्षात्कार और ब्रह्मानुभूति कहलाता है। तर्क की द्रुतगति ने यह निःसन्देह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर सम्बन्धी हमारे सभी विचार पूर्णतः मनःसम्भूत हैं, अर्थात् हम लोग स्वयं अपने मन से ही ईश्वर का निर्माण कर उसकी भक्तिपूर्ण उपासना करते हैं। तब ईश्वर की पूजा करने की आवश्यकता ही क्या है? अपनी मानसिक सृष्टि की पूजा हम क्यों करें? मानसिक क्रम-विकास का इतिहास बताता है कि मनुष्य के विकास के साथ साथ ईश्वर सम्बन्धी विचार कैसे वृद्धि पाता है। मृतात्मा और निसर्ग की पूजा से ऊपर उठकर वह अनेकेश्वरवाद और उसके बाद एकेश्वरवाद पर पहुँचता है। अपने ही स्वप्नों द्वारा दिखाये जाने पर अथवा अपने दिवंगत पूर्वजों के प्रति प्रेम या प्रकृति की विशाल शक्ति के कारण परलोक की भावना मनुष्य के अविकसित मन में उत्पन्न होती है और इन्द्रियों के पर्दे के पीछे वह झाँकने लगता है। इन्द्रियातीत विषयों की खोज में वह पितृ-पूजा और प्रकृति-पूजा के स्तर में से होते हुए प्रकृति की विभिन्न विशाल शक्तियों के पीछे अनेक देवी-देवताओं के परिचय तक आता है और अन्त में वह इन

---

* भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
—मुण्डकोपनिषद्, २–२–८

विभिन्न देवताओं के ऊपर एक सार्वभौम शासक के परिचय तक पहुँचता है, उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित कर उसकी उपासना करता है। तर्क यह बतलाएगा कि यद्यपि इन्द्रियातीत पदार्थों की पूजा उसके शक्ति-संचय और मस्तिष्क के विकास के लिये सहायक थी तथापि अब तक वह सर्वदा अपनी मानसिक सृष्टि की ही पूजा करता रहा है और अब चूँकि उसकी आँखें खुल गई हैं अतः उसे ईश्वर सम्बन्धी इन सभी भ्रममूलक विचारों का परित्याग कर देना चाहिये। वेदान्त यह अस्वीकार नहीं करता कि ईश्वर सम्बन्धी ये विभिन्न विचार केवल मानसिक हैं, पर साथ ही यह पूछता भी है कि क्या बाह्य जगत् सम्बन्धी हमारे सभी विचार वैसे ही नहीं हैं? जिस रूप में यह संसार प्रतीत हो रहा है क्या उस रूप में उसका ज्ञान हमें हो सकता है?—क्योंकि वह तो हमारी मानसिक सृष्टि मात्र है। क्या विज्ञान द्वारा यह सिद्ध नहीं हुआ है कि इन्द्रियाँ धोखेबाज हैं और वे वस्तुओं के असली स्वरूप को कभी नहीं जान सकतीं? अतः यदि ईश्वर सम्बन्धी हमारे सभी पूर्वोक्त विचारों को अस्वीकृत कर देना तर्कयुक्त है, क्योंकि वे मनःसम्भूत मात्र हैं, तो पूर्वकथित जगत् सम्बन्धी अन्य विचारों को भी अपने मन से निकाल देना तर्कयुक्त होगा; पर हम लोगों में ऐसे कितने हैं जो ऐसा करने के लिए तैयार हैं और ऐसा करने की शक्ति उनमें है? पुनश्च, किसी वस्तु के सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं वह यद्यपि मनःसृष्ट है तथापि वह हमें अपने ही विकास में तथा हमें ऊँचा उठाने में सहायता पहुँचाता है। तब अन्त में इसके सम्बन्ध में वेदान्त को जो कहना है वह यह है कि ईश्वर

सम्बन्धी इन विभिन्न विचारों की पूजा करना मनुष्य की भूल या भ्रम नहीं है—वह केवल सत्य के निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर अग्रसर होता है। इस संसार में उसकी प्रगति भ्रम से सत्य की ओर नहीं वरन् निम्न स्तर के सत्य से उच्च स्तर के सत्य की ओर होती है। इस संसार में प्रत्येक वस्तु—सत्य भी—सापेक्ष है। वस्तुओं के एक स्तर के लिए अथवा अस्तित्व की एक भूमि के लिए जो सत्य है वह दूसरे स्तर या भूमि के लिए सत्य नहीं है, तथा सापेक्ष भूमि पर से किये गये ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न विचार निरपेक्ष पूर्ण ब्रह्म सम्बन्धी विभिन्न विचार मात्र हैं। उदाहरणार्थ, यदि मान लें कि हम सूर्य की ओर यात्रा कर रहे हैं तो हम ज्यों ज्यों बढ़ते जायँगे त्यों त्यों प्रतिक्षण सूर्य सम्बन्धी हमारे विचार बदलते जायँगे। प्रगति के प्रत्येक पग पर एक ही सूर्य के नये नये दृश्य हम देखेंगे। जो सूर्य हमें चमकीले छोटे थाल के सदृश दीख पड़ता था, वह बढ़ता जायगा और अन्त में जब हम स्वयं सूर्य के निकट पहुँच जायँगे तब सूर्य का पूर्ण रूप हम देखेंगे तथा जानेंगे। किसी भी समय सूर्य में परिवर्तन नहीं हुआ है, पर जब तक हमने ज्योतिष्मान सूर्य का पूर्ण रूप नहीं देखा है तब तक सूर्य सम्बन्धी हमारे विचार ही बदलते गये हैं। अनन्त की ओर मनुष्य की प्रगति भी ऐसी ही है। अनन्त सम्बन्धी उसका विचार कभी पूर्ण रूप से शून्य नहीं हुआ है, पर अपनी सीमित इन्द्रियों एवं बुद्धि आदि से जो कुछ वह देखता है वह अनन्त का एक बहुत छोटा अंश है जिसे वह केवल अपनी सीमित शक्तियों के कारण

ही देखता है। ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास होता जाता है त्यों त्यों यह सीमितता कम होती जाती है और वह अनन्त को और अधिक उत्तम रूप में अनुभव करने लगता है। अन्त में उसकी सारी सीमितता उदीयमान सूर्य के आगे कुहरे के समान नष्ट हो जाती है और अनन्त का उसे पूर्ण रूप में परिचय मिल जाता है—अपने आप में उसे सत् चित् आनंद रूपी महासागर का साक्षात्कार हो जाता है। वेदों में यह बात बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है। "चमकदार सुनहरे पंख वाले तथा परस्पर पृथक् न होने वाले दो संगी पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, एक ऊपर वाली और दूसरा नीचे वाली डाल पर।"* ऊपर वाला पक्षी वृक्ष के मधुर और तिक्त फल खाने की परवाह न करता हुआ महत्ता और गौरव के साथ बैठा है और नीचे वाले को फल खाते देखता है। नीचे वाले पक्षी को ज्यों ज्यों वृक्ष के तिक्त फल का स्वाद मिलता है उसे विरक्ति आती जाती है और वह अपने ऊपर उच्च शाखा पर स्थित पक्षी का चमकता हुआ धीर गम्भीर रूप देखने लग जाता है तथा उसके कुछ समीप चला जाता है। फलों के प्रेम में पड़कर वह पुनः उस चमकीले रूप को भूल जाता है और पुनः पूर्ववत् फल खाता जाता है जब तक उसे पुनः दूसरा तिक्त फल

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
—मुण्डकोपनिषद्, ३, १, १–२

खाने को नहीं मिलता। पुनः उसे विरक्ति आ जाती है और अपने सामने के चमकीले रूप की ओर थोड़ा और बढ़ जाता है। इस प्रकार वह बढ़ता जाता है और अन्त में ऊपरवाले पक्षी के पास पहुँच जाता है। वहाँ पहुँचने पर सारा दृश्य बदल जाता है और वह अपने को ऊपर वाला पक्षी ही पाता है जो सर्वदा महत्ता और गौरव-युक्त हो बैठा रहा था।

इस प्रकार सभी धर्मों में लक्ष्य एक ही होने के कारण वेदान्त का किसी से झगड़ा नहीं है। वह सभी विभिन्न धर्मों को उस एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूपी महासागर की प्राप्ति के लिए अनेक विभिन्न मार्गों के रूप में देखता है। "जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ विभिन्न पर्वतों से निकलकर टेढ़े या सीधे मार्ग से नीचे उतरती हैं और अन्त में समुद्र में पहुँच जाती हैं उसी प्रकार हे परमात्मन्! ये सभी मतमतान्तर और धर्म विभिन्न दृष्टिकोणों से निकलकर और सीधे अथवा टेढ़े मार्गों से होकर चलते हुए अन्त में आप ही में विलीन हो जाते हैं।"* वेदान्त किसी की निन्दा नहीं करता, क्योंकि मनुष्य इस समय जिस रूप में है उस रूप में वह उसे नहीं देखता वरन् उसे उसके वास्तविक रूप में ही देखता है। वह हमें सिखलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानेगा और अपने को समस्त ज्ञान,

---

* रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

—शिवमहिम्न स्तोत्र

शक्ति और आनन्द के उद्गमस्थान के रूप में साक्षात् अनुभव करेगा। इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक कर्म में से होकर उस ओर अग्रसर हो रहा है। कर्मयोगी दूसरों की सेवा कर, ज्ञानयोगी अपनी विचार-शक्ति या ज्ञान का विकास कर, भक्त अपनी भावना या भक्ति का विकास कर—सभी विकास की उस सर्वोच्च अवस्था अर्थात् इन्द्रियातीत अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त करेंगे। अब यदि कोई व्यक्ति नास्तिक अथवा अज्ञेयवादी हो तो क्या? प्रश्न यह है कि क्या वह हृदय का सच्चा तथा धुन का पक्का है, तथा क्या दूसरों की भलाई के लिए और जिस सत्य को उसने पहचाना है उसके लिए सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करने को तैयार है? वेदान्त का कहना है कि उसके लिए कोई भय नहीं। वह उच्चतर सत्यों की ओर बढ़ेगा और अन्त में सर्वोच्च सत्य को प्राप्त कर लेगा। धार्मिक विचारों में अनन्त विभिन्नताएँ होने दो। हम अपने मार्ग से चलें, पर दूसरों को उसी मार्ग पर ज़बरदस्ती लाने की चेष्टा न करें। यह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि विभिन्नता में एकता क्या प्रकृति का नियम नहीं है? और मार्ग भिन्न होते हुए भी क्या लक्ष्य एक नहीं है? हम विश्व के लिए अपने को ही मापदण्ड न समझ लें, पर यह समझें कि इस विश्व की पृष्ठभूमि एकता ही है और मनुष्य किसी भी मार्ग से चले, अन्त में उसी एक लक्ष्य पर पहुँचेगा।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)—मूल्य ६);
द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)—
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित्र**—(विस्तृत जीवनी)—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**—(वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि.सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८.	**भारत में विवेकानन्द**—(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान)		५)
९.	**ज्ञानयोग**	(प्रथम संस्करण)	३)
१०.	**पत्रावली (प्रथम भाग)**	(प्रथम संस्करण)	२=)
११.	,, **(द्वितीय भाग)**	(प्रथम संस्करण)	२=)
१२.	**धर्मविज्ञान**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३.	**कर्मयोग**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१४.	**हिन्दू धर्म**	(द्वितीय संस्करण)	१॥)
१५.	**प्रेमयोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१६.	**भक्तियोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१७.	**आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१८.	**परिव्राजक**	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१९.	**प्राच्य और पाश्चात्य**	(चतुर्थ संस्करण)	१)
२०.	**महापुरुषों की जीवनगाथायें**	(प्रथम संस्करण)	१।)
२१.	**राजयोग**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२२.	**स्वाधीन भारत! जय हो!**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२३.	**धर्मरहस्य**	(प्रथम संस्करण)	१)
२४.	**भारतीय नारी**	(प्रथम संस्करण)	॥।)
२५.	**शिक्षा**	(प्रथम संस्करण)	॥=)

२६. शिकागो वक्तृता (प्रथम संस्करण) ।।≈)
२७. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वितीय संस्करण) ।।≈)
२८. मेरे गुरुदेव (चतुर्थ संस्करण) ।।≈)
२९. कवितावली (प्रथम संस्करण) ।।≈)
३०. सरल राजयोग (प्रथम संस्करण) ।।)
३१. वर्तमान भारत (तृतीय संस्करण) ।।)
३२. पवहारी बाबा (द्वितीय संस्करण) ।।)
३३. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वितीय संस्करण) ।।)
३४. मरणोत्तर जीवन (द्वितीय संस्करण) ।।)
३५. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें ।।)
३६. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ।।≈)
३७. मेरी समर-नीति (प्रथम संस्करण) ।≡)
३८. ईशदूत ईसा (प्रथम संस्करण) ।≈)
३९. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्रथम संस्करण) १।)
४०. विवेकानन्दजी की कथायें (प्रथम संस्करण) १।)
४१. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।।।)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)
४२. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्रथम संस्करण) ।।≈)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति), ३।)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३।)
३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा (दुसरी आवृत्ति) ।।।≈)
४. शिकागो-व्याख्यानें—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।≈)
५. माझे गुरुदेव—(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।≈)
६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण—स्वामी विवेकानंद ।।-)
७. पवहारी बाबा—स्वामी विवेकानंद ।।)
८. साधु नाग महाशय चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)—(दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर–१, म. प्र.

तन्नो हंसः प्रचोदयात्

मूल्य ६ आ.